© 2018 IJSRSET | Volume 4 | Issue 1 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099
Themed Section : Engineering and Technology

प्राचीन भारत में धातुकर्म का इतिहास

शैलेन्द्र कुमार यादव
(शोधछात्र)
प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

धातु विज्ञान का भारत में प्राचीन काल से व्यावहारिक जीवन में उपयोग होता रहा है। यजुर्वेद के एक मंत्र में निम्न उल्लेख आया है–

''अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च में पर्वताश्च में सिकताश्च में वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च में श्यामं च मे लोहं च मे सीस च में त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम'' (कृ.यजु. ४–७–५) अर्थात मेरे पत्थर, मिट्टी, पर्वत, गिरि, बालू, वनस्पति, सुवर्ण, लोहा, लाल लोहा, ताम्र, सीसा और टीन यज्ञ से बढ़ें[1]।

रामायण, महाभारत, पुराणों, श्रुति ग्रंथों में भी सोना (सुवर्ण, हिरण्य), लोहा (स्याम), टिन (त्रपु), चांदी (रजत), सीसा, तांबा, (ताम्र), कांसा आदि का उल्लेख आता है।

धातु विज्ञान से सम्बंधित व्यवसाय करने वाले कुछ लोगों के नाम जैसे कर्मरा (कच्ची धातु गलाने वाले),

धमत्र (भट्टी में अग्नि तीव्र करने वाले), हिरण्यक (स्वर्ण गलाने वाले), खनक (खुदाई कर धातु निकालने वाले।) आदि मिलते है।

चरक, सुश्रुत, नागार्जुन ने स्वर्ण, रजत, ताम्र, लौह, अभ्रक, पारा आदि से औषधियां बनाने की विधि का विस्तार से अपने ग्रंथों में वर्णन किया है। केवल प्राचीन ग्रंथों में ही विकसित धातु विज्ञान का उल्लेख नहीं मिलता, अपितु उसके अनेक प्रमाण आज भी उपलब्ध होते हैं। कुछ उदाहरण निम्नलिखित है–

(१) जस्ता– (इत्दड़) धातु विज्ञान के क्षेत्र में जस्ते की खोज एक आश्चर्य है। आसवन प्रक्रिया (क़्त्द्मद्यत्थ्ठ्ठद्यत्दृद द्रद्धदृड़्ड्ढद्मदम) के द्वारा कच्चे जस्ते से शुद्ध जस्ता निकालने की प्रक्रिया निश्चय ही भारतीयों के लिए गर्व का विषय है। राजस्थान के 'जवर' क्षेत्र में खुदाई के दौरान ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में इसके निर्माण की प्रक्रिया के अवशेष मिले हैं। मात्र दस फीसदी जस्ते से पीतल सोने की तरह चमकने लगता है। जवर क्षेत्र की खुदाई में जो पीतल की वस्तुएं प्राप्त हुई हैं उनका रासायनिक विश्लेषण करने पर पाया गया कि इनमें जस्ते की मात्रा ३४ प्रतिशत से अधिक है, जबकि आज की ज्ञात विधियों के अनुसार सामान्य स्थिति में पीतल में २८ प्रतिशत से अधिक जस्ते का सम्मिश्रण नहीं हो पाता है।

IJSRST1845296 | Received : 13 Jan 2018 | Accepted : 29 Jan 2018 | January-February-2018 [(4) 2 | 1577-1581]

जस्ते को पिघलाना भी एक जटिल प्रक्रिया है, क्योंकि सामान्य दबाव में यह ६१३०से. तापक्रम पर उबलने लगता है। जस्ते के आक्साइड या कच्चे जस्ते से शुद्ध जस्ता प्राप्त करने के लिए उसे १२०००से. तापक्रम आवश्यक है, लेकिन इतने तापक्रम पर जस्ता भाप बन जाता है। अतः उस समय पहले जस्ते का आक्साइट बनाने के लिए कच्चे जस्ते को भूंजते थे, फिर भुंजे जस्ते को कोयला व अपेक्षित प्रमाण में नमक मिलाकर मिट्टी के मटकों में तपाया जाता था तथा ताप १२०००से पर बनाए रखा जाता था। इस पर वह भाप बन जाता था, परन्तु भारतीयों ने उस समय विपरीत आसवनी नामक प्रक्रिया विकसित की थी। इसके प्रमाण जवर की खुदाई में मिले हैं। इसमें कार्बन मोनोआक्साइड के वातावरण में जस्ते के आक्साइड भरे पात्रों को उल्टे रखकर गर्म किया जाता था। जैसे ही जस्ता भाप बनता, ठीक नीचे रखे ठंडे स्थान पर पहुंच कर धातु रूप में आ जाता था और इस प्रकार शुद्ध जस्ते की प्राप्ति हो जाती थी। जस्ते को प्राप्त करने की यह विद्या भारत में ईसा के जन्म से पूर्व से प्रचलित रही[2]।

यूरोप के लोग १७३५ तक यह मानते थे कि जस्ता एक तत्व के रूप में अलग से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यूरोप में सर्वप्रथम विलियम चैम्पियन ने जस्ता प्राप्त करने की विधि ब्रिस्टल विधि के नाम से पेटेंट करवाई और यह नकल उसने भारत से की, क्योंकि तेरहवीं सदी के ग्रंथ रसरत्नसमुच्चय में जस्ता बनाने की जो विधि दी है, ब्रिस्टल विधि उसी प्रकार की है।

(२) लोहा– (क्ष्व्ददृद) इतिहास में भारतीय इस्पात की श्रेष्ठता के अनेक उल्लेख मिलते हैं। अरब और फारस में लोग भारतीय इस्पात की तलवार के लिए लालायित रहते थे। अंग्रेजों ने सर्वाधिक कार्बन युक्त इस्पात को बुट्ज नाम दिया। प्रसिद्ध धातु वैज्ञानिक तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो. अनंतरमन ने इस्पात बनाने की सम्पूर्ण विधि बताई है। कच्चे लोहे, लकड़ी तथा कार्बन को मिट्टी की प्यालियों में १५३५०से. ताप पर गर्म कर धीरे–धीरे २४ घण्टे में ठण्डा करने पर उच्च कार्बन युक्त इस्पात प्राप्त होता है। इस इस्पात से बनी तलवार इतनी तेज तथा मजबूत होती है कि रेशम को भी सफाई से काट देती है।

१८वीं सदी में यूरोपीय धातु विज्ञानियों ने भारतीय इस्पात बनाने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहे। माइकेल फैराडे ने भी प्रयत्न किया, पर असफल रहा। कुछ ने बनाया तो उसमें वह गुणवत्ता नहीं थी।

श्री धर्मपाल जी ने अपनी पुस्तक क्ष्दड्डत्ठ्द द्मड़त्ड्डदड़ड्ड ठ्ठदड्ड द्यड्डड़ण्ददृथ्दृढ़्र् त्द द्यण्ड्ड ड्डत्ढ़ण्द्यड्डड्डदद्यण ड़ड्डदद्यद्वर्द्धर् में यूरोपीय लोगों ने जो प्रगत लौह उद्योग के प्रमाण दिए हैं, उनका उल्लेख किया है। सितम्बर, १७१५ को डा. बेंजामिन हायन ने जो रपट ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भेजी, उसमें वह उल्लेख करता है कि रामनाथ पेठ (तत्कालीन मद्रास प्रान्त में बसा) एक सुन्दर गांव है। यहां आस–पास खदानें हैं तथा ४० इस्पात

की भट्टियां हैं। इन भट्टियों में इस्पात निर्माण के बाद उसकी कीमत २ रु. मन पड़ती है। अतः कम्पनी को इस दिशा में सोचना चाहिए[3]।

दूसरी रपट मेजर जेम्स फ्रैकलिन की है जिसमें वह सेंट्रल इंडिया में इस्पात निर्माण के बारे में लिखता है। इसमें वह जबलपुर, पन्ना, सागर आदि स्थानों की लौह खदानों का वर्णन करता है तथा इस्पात बनाने की प्रक्रिया के बारे में वह कहता है चारकोल सारे हिन्दुस्तान में लोहा बनाने के काम में प्रयुक्त होता है। जिस भट्टी (क़्द्वद्धदठ्ठड़्ड्ढ) का उल्लेख करता है, उसका निर्माण किया गया है। उसमें सभी भाग बराबर औसत १६–२० क्द्वडत्द्य (क्द्वडत्द्य–लम्बाई मापने की प्राचीन इकाई, लगभग १८ इंच इसका माप था) के थे। और १६ छोटी क्द्वडत्द्य के थे। वह इस फर्नेस को बनाने की विधि का वर्णन करता है। फर्नेस बनाने पर उसके आकार को वह नापता है तो पूरी भट्टी में वह पाता है कि एक ही प्रकार की नाप है। लम्बाई सवा ४ भाग तो चौड़ाई ३ भाग होगी और मोटाई डेढ़ भाग। आगे वह लिखता है (१) गुडारिया (२) पचर (३) गरेरी तथा (४) अकरिया–ये उपांग इसमें लगाए जाते हैं। बाद में जब भट्टी पूरी तरह सूख जाती है तो उसे काम में लाया जाता है। भट्टी के बाद धोंकनी (एथ्दृर्ध्) उसका मुंह (ग़्दृन्न्न्थ्ड्ढ) बनाने की विधि, उसके बाद भट्टी से जो कच्चा लोहा निकलेगा उसे शुद्ध करने की रिफायनरी का वर्णन करता है। फिर उससे इस्पात बनाने की प्रक्रिया तथा मात्रा का निरीक्षण उसने ३० अप्रैल, १८२७ से लेकर ६ जून, १८२७ तक किया। इस बीच ४ फरनेस से २२३५ मन इस्पात बना और इसकी विशेषता गुणवत्ता तथा विभिन्न तापमान एवं परिस्थिति में श्रेष्ठता की वह मुक्तकंठ से प्रशंसा करता है। उस समय एक मन की कीमत पौने बारह आना थी।

मेजर जेम्स फ्रैकलिन सागरमिंट के कप्तान प्रेसग्रेव का हवाला देते हुए कहता है कि भारत का सरिया (लोहा) श्रेष्ठ स्तर का है। उस स्वीडन के लोहे को भी वह मात देता है जो यूरोप में उस समय सर्वश्रेष्ठ माना जाता था।

तीसरी रपट कैप्टन डे. कैम्पबेल की है जो १८४२ की है। इसमें दक्षिण भारत में लोहे के निर्माण का वर्णन है। ये सब रपट कहती हैं कि उस समय देश में हजारों छोटी–छोटी इस्पात निर्माण की भट्टियां थीं। एक भट्टी में ६ लोगों को रोजगार मिलता था तथा उत्कृष्ट प्रकार का सस्ता लोहा बनता था। वैसा दुनिया में अन्य किसी देश में संभव नहीं था। कैम्पबेल ने रेलगाड़ी में लगाने के लिए बार आयरन की खोज करते समय बार–बार कहा, यहां का (भारत का) बार आरयन उत्कृष्ट है, सस्ता है। इंग्लैण्ड का बढ़िया लोहा भी भारत के घटिया लोहे का मुकाबला नहीं कर सकता। उस समय ६० हजार लोग इन भट्टियों में काम करते थे। अंग्रेजों ने १८७४ में बंगाल आयरन कंपनी की स्थापना कर बड़े पैमाने पर उत्पादन चालू किया। परिणामस्वरूप धीरे–धीरे गांव–गांव में बनने वाले इस्पात की खपत कम होती गई और उन्नीसवीं सदी के अन्त तक स्वदेशी इस्पात बनना लगभग बंद हो गया। अंग्रेजों ने बड़े कारखाने लगाकर स्वदेशी प्रौद्योगिकी की कमर तोड़ दी। इसका

दुःखद पक्ष यह है कि भारतीय धातु प्रौद्योगिकी लगभग लुप्त हो गई। आज झारखंड के कुछ वनवासी परिवारों में इस तकनीक के नमूने मात्र रह गए हैं।

दिल्ली स्थित लौह स्तंभ एक चमत्कार

नई दिल्ली में कुतुबमीनार के पास लौह स्तंभ विश्व के धातु विज्ञानियों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। लगभग १६०० से अधिक वर्षों से यह खुले आसमान के नीचे सदियों से सभी मौसमों में अविचल खड़ा है। इतने वर्षों में आज तक उसमें जंग नहीं लगी, यह बात दुनिया के लिए आश्चर्य का विषय है। जहां तक इस स्तंभ के इतिहास का प्रश्न है, यह चौथी सदी में बना था। इस स्तम्भ पर संस्कृत में जो खुदा हुआ है, उसके अनुसार इसे ध्वज स्तंभ के रूप में खड़ा किया गया था। चन्द्रराज द्वारा मथुरा में विष्णु पहाड़ी पर निर्मित भगवान विष्णु के मंदिर के सामने इसे ध्वज स्तंभ के रूप में खड़ा किया गया था। इस पर गरुड़ स्थापित करने हेतु इसे बनाया गया होगा, अतः इसे गरुड़ स्तंभ भी कहते हैं। १०५० में यह स्तंभ दिल्ली के संस्थापक अनंगपाल द्वारा लाया गया[4]।

इस स्तंभ की ऊंचाई ७३५.५ से.मी. है। इसमें से ५० सेमी. नीचे है। ४५ से.मी. चारों ओर पत्थर का प्लेटफार्म है। इस स्तंभ का घेरा ४१.६ से.मी. नीचे है तथा ३०.४ से.मी. ऊपर है। इसके ऊपर गरुड़ की मूर्ति पहले कभी होगी। स्तंभ का कुल वजन ६०९६ कि.ग्रा. है। १९६१ में इसके रासायनिक परीक्षण से पता लगा कि यह स्तंभ आश्चर्यजनक रूप से शुद्ध इस्पात का बना है तथा आज के इस्पात की तुलना में इसमें कार्बन की मात्रा काफी कम है। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के मुख्य रसायन शास्त्री डा. बी.बी. लाल इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि इस स्तंभ का निर्माण गर्म लोहे के २०–३० किलो को टुकड़ों को जोड़ने से हुआ है। माना जाता है कि १२० कारीगरों ने पन्द्रह दिनों के परिश्रम के बाद इस स्तम्भ का निर्माण किया। आज से सोलह सौ वर्ष पूर्व गर्म लोहे के टुकड़ों को जोड़ने की उक्त तकनीक भी आश्चर्य का विषय है, क्योंकि पूरे लौह स्तम्भ में एक भी जोड़ कहीं भी दिखाई नहीं देता। सोलह शताब्दियों से खुले में रहने के बाद भी उसके वैसे के वैसे बने रहने (जंग न लगने) की स्थिति ने विशेषज्ञों को चकित किया है। इसमें फास्फोरस की अधिक मात्रा व सल्फर तथा मैंगनीज कम मात्रा में है। स्लग की अधिक मात्रा अकेले तथा सामूहिक रूप से जंग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ा देते हैं। इसके अतिरिक्त ५० से ६०० माइक्रोन मोटी (एक माइक्रोन याने १ मि.मी. का एक हजारवां हिस्सा) आक्साइड की परत भी स्तंभ को जंग से बचाती है[5]।

(३) पारा (ग्ड्ढद्धड़द्वद्धद्धर्न) यूरोप में १७वीं सदी तक पारा क्या है, यह वे जानते नहीं थे। अतः फ्रांस सरकार के दस्तावेजों में इसे दूसरी तरह की चांदी 'क्विक सिल्वर' कहा गया, क्योंकि यह चमकदार तथा इधर–उधर घूमने वाला होता है। वहां की सरकार ने यह कानून भी बनाया था कि भारत से आने वाली जिन औषधियों में पारे का उपयोग होता है उनका उपयोग विशेषज्ञ चिकित्सक ही करें।

भारतवर्ष में लोग हजारों वर्षों से पारे को जानते ही नहीं थे अपितु इसका उपयोग औषधि विज्ञान में बड़े पैमाने पर होता था। विदेशी लेखकों में सर्वप्रथम अलबरूनी ने, जो ११वीं सदी में भारत में लम्बे समय तक रहा, अपने

ग्रंथ में पारे को बनाने और उपयोग की विधि को विस्तार से लिखकर दुनिया को परिचित कराया। पारे को शुद्ध कर उसे उपयोगी बनाने की विधि की आगे रसायनशास्त्र सम्बंधी विचार करते समय चर्चा करेंगे। परन्तु कहा जाता है कि सन् १००० में हुए नागार्जुन पारे से सोना बनाना जानते थे। आश्चर्य की बात यह है कि स्वर्ण में परिवर्तन हेतु पारे को ही चुना, अन्य कोई धातु नहीं चुनी। आज का विज्ञान कहता है कि धातुओं का निर्माण उनके परमाणु में स्थित प्रोटॉन की संख्या के आधार पर होता है और यह आश्चर्य की बात कि पारे में ८० प्रोटॉन–इलेक्ट्रान तथा सोने में ७६ प्रोटॉन–इलेक्ट्रान होते हैं।

(४) सोना–चांदी (क्रदृथ्ड्ड–च्थ्ध्ड्डद्ध) ए.डेल्मर अपनी पुस्तक में उल्लेख करता है कि सिन्धु नदी के उद्गम स्थल पर स्वर्ण और रजत के कण वहां की सारी मिट्टी में प्राप्त होते हैं।

ऋग्वेद के छठे मंडल के ६१वें सूक्त का सातवां मंत्र सरस्वती और सिन्धु को हिरण्यवर्तनी कहता है[6]।

रामायण, महाभारत, श्रीमद् भागवद्, रघुवंश, कुमारसंभव आदि ग्रंथों में सोने व चांदी का उल्लेख मिलता है। स्वर्ण की भस्म बनाकर उसके औषधीय उपयोग की परम्परा शताब्दियों से भारत में प्रचलित रही है।

इसी प्रकार सोने, तांबे (क्दृद्रद्रड्डद्ध) तथा शीशे (ख्र्ड्ढठ्ठड्ड) के उपयोग के संदर्भ–अथर्ववेद, रसतरंगिणी, रसायनसार, शुक्रनीति, आश्वालायन गृह्यसूत्र, मनु स्मृति में मिलते हैं। रसरत्न समुच्चय ग्रंथ में अनेक धातुओं को भस्म में बदलने की विधि तथा उनका रोगों के निदान में उपयोग विस्तार के साथ लिखा गया है। इससे ज्ञान होता है कि धातु विज्ञान भारत में प्राचीन काल से विकसित रहा और इसका मानव कल्याण के लिए उपयोग करने के लिए विचित्र विधियां भारत में विकसित की गएं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1. यजुर्वेद 4–7–5
2. अहमद, नसीम – प्रचीन भारत में विज्ञान व तकनीकि
3. सहाय, धर्मपाल– प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक विकास
4. श्रीवास्तव, के0सी0– प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति
5. शास्त्री नीलकण्ठ– ए हिस्ट्री ऑफ एन्सिएण्ट इण्डिया
6. ऋग्वेद–6–61–7